



SEPT—2009

डॉ. विरही की लोक सांस्कृतिक आलोचनात्मक दृष्टि



डॉ. लखनलाल खरे

सहायक प्राध्यापक, हिन्दी शासकीय श्रीमंत महाराज माधवराव सिंधिया महाविद्यालय, कोलारस शिवपुरी (म.प्र.)

हिन्दी साहित्य में जब-जब भी आलोचना का प्रश्न उपस्थित होता है, तब-तब उसके उत्तर में परम्परानुमोदित स्वरूप को खड़ा कर दिया जाता है। सैद्धांतिक आलोचना और व्यावहारिक आलोचना तो आलोचना के प्रकारों में हैं ही, वैचारिक दृष्टिकोण से भी आलोचना को वर्गीकृत किया गया है। डॉ. विरही की आलोचना उक्त प्रकारों का समन्वित रूप है, परन्तु उनका मूल स्वर सांस्कृतिक है। इस सांस्कृतिक आलोचना के पथ का डॉ. विरही ने अपनी मौलिक, सूक्ष्म और गंभीर चिंतनपरक अनुशीलन-दृष्टि से निर्माण किया है। सांस्कृतिक आलोचना में भी उन्हें लोक संस्कृति सर्वप्रिय है।

डॉ. विरही का कृतित्व- डॉ. विरही कवि, उपन्यासकार, इतिहासकार एवं आलोचक हैं, परन्तु उनका आलोचक रूप ही प्रधान है। इनके जिन ग्रंथों से इनके आलोचना-संसार का निर्माण हुआ है, वे निम्नानुसार हैं-

1. आधुनिक हिन्दी काव्य में यथार्थवाद (1966) 2. आधुनिक कवियों का जीवन-दर्शन (1973) 3. फान्टामारा (अनुवाद) 1989 4. बुन्देलखण्ड की संस्कृति (2001) 5. फ्रायड के साथ (2003) 6. तात्याटोपे : बुन्देलखण्ड में (2006) 7. संस्कृति के दूत (रूपक-2007) 8. लोक संस्कृति : अवधारणा और तत्व (2008) 9. नवजागरण और साहित्य (2009) 10. दी प्रॉफेट (अनुवाद-2009)

उपर्युक्त ग्रंथों में 'फान्टामारा' और 'दी प्रॉफेट' अनुवाद हैं। 'तात्याटोपे : बुन्देलखण्ड में'-में 1857 की क्रांति के मध्य विख्यात क्रांतिकारी तात्याटोपे, रानी झांसी व विभिन्न

राजाओं के मध्य जो पत्राचार हुआ, उन्हें संकलित कर उनका सम्पादन किया गया है। इस ग्रंथ में केवल पत्रों का संकलन-सम्पादन ही नहीं है, डॉ. विरही की स्वच्छ ऐतिहासिक-समीक्षात्मक दृष्टि भी प्राप्त होती है। ये स्थल वे हैं जहाँ लेखक ने स्वतंत्र टिप्पणियां दी हैं। इन टिप्पणियों की नौका ने इतिहास के चंचल नीर पर काव्यात्मक मंथर लहरियों का स्पर्श करते हुए मंद-मंद क्रीड़ा की है-“प्रभावशाली और सर्वमान्य नेतृत्व के अभाव में क्रांतिकारी बिखरे हुए थे। अतः साहस और वीरता की असाधारण प्रतिभा रखते हुए भी वे अँग्रेजों की संगठित शक्ति, चालबाजी और भारतीय गद्दारों से प्राप्त सहायता से सबल हुए अँग्रेजों के सामने अधिक समय तक टिक नहीं सके और जहाँ-जहाँ क्रांतिकारियों ने अपना शासन स्थापित कर लिया था उन सब स्थानों पर वे पराजय से बच नहीं सके।”¹ “आज का राजस्थान और जब क्रांति हुई थी, उस समय का राजपूताना क्रांति का रणक्षेत्र बनने के लिए उतावला था।”²

डॉ. विरही की आलोचना यात्रा का प्रस्थान बिंदु- सन् 1966 में 'आधुनिक हिन्दी काव्य में यथार्थवाद' ग्रंथ के प्रकाशन ने डॉ. विरही का आलोचनात्मक स्वरूप गढ़ा और इस कृति ने ही हिन्दी-जगत में डॉ. विरही को एक श्रेष्ठ समीक्षक के रूप में स्थापित कर दिया। इसके पूर्व सन् 1959 में इनका एक काव्य ग्रंथ-'अनाथके प्राण' प्रकाशित हो चुका था। स्पष्ट है, काव्य-शैली का प्रभाव इस प्रथम कृति पर रहा तो, परन्तु इसने विचार सम्प्रेषण में बाधा उत्पन्न नहीं की, अपितु उसे अभिधात्मक सरसता

ही प्रदान की : "वे अपने धार्मिक विश्वासों को बुद्धिवाद की आधारशिला प्रदान करने में कार्यरत थे। इस युग के दो महत्वपूर्ण महाकाव्य हैं—प्रियप्रवास और साकेत। दोनों महाकाव्यों में कृष्ण और राम का चित्रण ईश्वर-अवतार के रूप में न होकर मानव के रूप में हुआ है। यद्यपि हरिऔध I और मैथिलीशरण गुप्त दोनों महाकवियों ने अपनी व्यक्तिगत मान्यताओं में कृष्ण और राम को ईश्वर माना है, किन्तु युग की नवीन विचारधाराओं और विश्वासों से प्रभावित होकर इन महाकवियों ने अपने चरित्र नायकों का चरित्र-चित्रण मानवीय धरातल पर किया है।"³

दूसरे आलोचना ग्रंथ—“आधुनिक कवियों का जीवन-दर्शन” (सन् 1973) में मैथिलीशरण गुप्त, अयोध यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध', प्रसाद, निराला, पंत, महादेवी, डॉ. रामकुमार वर्मा, दिनकर, अज्ञेय, गिरिजाकुमार माथुर, मुक्तिबोध तथा नागार्जुन-इन बारह कवियों की रचना धर्मिता और जीवन-दर्शन को विश्लेषित किया गया है। इन दोनों ग्रंथों में डॉ. विरही ने सैद्धान्तिक और व्यावहारिक आलोचना के समन्वय को स्थापित किया है। प्रथम ग्रंथ में डॉ. विरही जब यथार्थवाद, आदर्शवाद, रहस्यवाद, छायावाद, प्रकृतिवाद और प्रतीकवाद जैसी अभिव्यंजना-प्रणालियों को विश्लेषित करते हैं, तब इनकी शैली सिद्धान्त-निरूपण की भांति प्रतीत होने लगती है। यह आवश्यक नहीं है कि काव्य शास्त्रीय सिद्धान्तों के विवेचन से ही सैद्धान्तिक आलोचना निर्मित होती है। साहित्य के वादों को सैद्धान्तिक पद्धति से निरूपित करना भी सैद्धान्तिक आलोचना है और डॉ. विरही ने ऐसा किया है : "प्रतीकवाद और यथार्थवाद परस्पर विरोधी वाद हैं। प्रतीकवाद का जन्म यथार्थवाद के प्रति विद्रोह के द्वारा ही हुआ। यथार्थवाद सामाजिक वस्तु चित्रण की वास्तविकता का उद्देश्य लेकर चलता है और प्रतीकवाद अभिव्यक्ति में सौंदर्य सृष्टि का अभिप्राय लिये है। यथार्थवाद वस्तुगत वाद है और प्रतीकवाद शैलीगत वाद।"⁴

दूसरे आलोचनात्मक ग्रंथ में व्यावहारिक आलोचना की सहज शैली का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है : 'निराला को सब कुछ असाधारण ही मिला था। साधारणतः की सीमा में न आने वाला विशाल-वलिष्ठ शरीर, असाधारण मेधा, सहज, संवेदनशील और परदुःखकातर हृदय, सुरीला कंठ, सबल अभिव्यंजना और विषम संघर्षमयी परिस्थितियाँ निराला के निराले व्यक्तित्व का निर्माण करती रही हैं। उन्हें जितना

विरोध मिला, उतनी ही हार्दिक प्रशंसा भी मिली। उन पर जितनी चोटें की गयीं, उतने ही फूल भी बरसाये गये और अपने जीवन के अभावों से भी जितने पीड़ित रहे, अपने श्रद्धालु-पाठकों और मित्रों से उतने ही पूज्य भी होते रहे।"⁵ डॉ. विरही की सांस्कृतिक आलोचनात्मक दृष्टि—सन् 1973 के दीर्घान्तराल—27 वर्षोपरान्त डॉ. विरही का आलोचना जगत परिवर्तित होता है और वे लोकसंस्कृति की ओर उन्मुख हो जाते हैं। इस मध्य उनका कवि रूप अवश्य सक्रिय रहा और चार काव्य कृतियाँ (आदमी का डर 1980, अन्तर्यात्रा 1982, अमर होते हैं स्वर 1994 तथा अपने हिस्से का उजाला 1997) प्रकाश में आयीं। सन् 2001 में प्रकाशित विवेचनात्मक गद्य कृति—'बुन्देलखण्ड की संस्कृति' से डॉ. विरही की आलोचना का नया रूप आकार ग्रहण करता है जिसे 'लोकसंस्कृति - आलोचना' द्वारा अभिहित किया जा सकता है। यह वह काल था, जब हिन्दी-आलोचना में उथल-पुथल मची हुई थी। मार्क्सवादी आलोचना, रूपवादी आलोचना, प्रगतिवादी आलोचना और न जाने कितने विचारों-वादों से आलोचना आवृत्त हो चुकी थी। यही वह समय था, जब इन साहित्यिक वादों को 'बाजारवाद' और 'अन्तर्राष्ट्रीयवाद' का हौवा प्रभावित कर रहा था। हिन्दी आलोचना के तमाम पंडित जब परंपरागत मंत्रोच्चारों के साथ इन वादों का गठबंधन करा रहे थे, तब डॉ. विरही हाशिये पर पड़ी लोक संस्कृति के द्वारा भारतीय संस्कृति की प्रतिष्ठा कर अपने सर्वथा मौलिक पथ का अनुसंधान कर रहे थे। विवाह-विच्छेद होने लगे, स्त्रियों को पिता और पति की सम्पत्ति में भागीदारी के अधिकार मिले, रहन-सहन में पाश्चात्य प्रभाव बढ़ा और अंग्रेजों के जाने के बाद भी अँग्रेजियत का वर्चस्व, शिक्षा का व्यापक प्रचार और अनेक विश्वविद्यालयों, महाविद्यालयों, तकनीकी विद्यालयों की स्थापना ;.....अनेक छोटे-बड़े बाँधों का निर्माण, जिनसे कृषि उत्पादन और विद्युत उत्पादन बढ़ा, राजनीति की सत्ता मूलकता अतः उसका अपराधीकरण, पुरस्कारोन्मुखी समाजसेवा, नैतिक मूल्यों का विघटन, आर्थिक दशा सुधरने से आवासीय कॉलोनियों का निर्माण, जनसंख्या वृद्धि की समस्याएँ, मद्यपान और मादक द्रव्यों के प्रयोग में बढ़ती हुई प्रवृत्ति, नवधनाढ्य वर्ग का उदय, अवैध साधनों से ६ इन कमाने की प्रवृत्ति, विदेश यात्राएँ और विदेशों में व्यवसाय करने के प्रयास, विकास योजनाओं की सफलता-असफलता

आदि से निर्मित वातावरण का स्वातंत्र्योत्तर युग के बुन्देलखण्ड की संस्कृति पर ऐसा प्रभाव पड़ा है कि परम्परा की रक्षा की बात होने लगी है। अपनी चीजों को त्याग कर बाहरी चीजों को ग्रहण करने के प्रयास अन्धानुकरण की सीमा तक पहुंच गये हैं। प्रदर्शन और अन्धानुकरण से संस्कृति में अन्तर्विरोध पनप रहे हैं।⁶

लोक संस्कृति की आलोचना का जो सूत्रपात डॉ. विरही ने उपर्युक्त चिन्ता के साथ किया, उसमें उत्तरोत्तर वृद्धि होती गयी और वर्ष 2001 के पश्चात् अब तक लेखक की जितनी भी कृतियाँ आयीं, उनमें अधिकतर अपनी माटी की गंध से सुवासित कृतियाँ हैं। ये हैं—‘तात्याटोपे : बुन्देलखण्ड में (2006), ‘संस्कृति के दूत’ (2007), ‘लोक संस्कृति : अवधारणा और तत्व (2008) तथा शीघ्र प्रकाश्य—‘बुन्देली लोकगीतों का सांस्कृतिक अध्ययन’। यद्यपि 2003 में रचनाकार की प्रकाशित कृति—‘फ्रॉयड के साथ’ के स्वर भिन्न हैं। इस कृति में चार मनोवैज्ञानिक—चिन्तक—दार्शनिकों—सिगमंड फ्रॉयड, सी. जी. जुंग, एरिक फ्रॉम तथा जे. कृष्णमूर्ति और इनसे किसी—न—किसी रूप में प्रभावित रचनाकारों—माखनलाल चतुर्वेदी, राहुल सांकृत्यायन, फिराक गोरखपुरी व बच्चन के कृतित्व को आलोचनात्मक दृष्टि से रेखांकित किया गया है। इन समस्त निबंधों (जिन्हें लेखक ने भूमिका में ‘परिचयात्मक निबंध की संज्ञा प्रदान की है) में सहज भाषा का ललित प्रवाह द्रष्टव्य है—‘बच्चन ने अपने काम को अधूरा नहीं छोड़ा। ‘किसी ने बच्चन को हाला का कवि कहा ; किसी ने प्रेम—वासना का और किसी ने वैयक्तिक व्यथा का। मैं सोचता हूँ कि जिन विशेषताओं को ध्यान में रखकर लोगों ने उन्हें अलग—अलग छापे—तिलक दिये हैं, उनमें वे सारी विशेषताएँ तो हैं ही, उनसे आगे भी कुछ हैं। जीवन के विविध रूप, विविध रंग कवि के काव्य में अभिव्यक्त हुए हैं और वे वास्तव में जीवन के कवि हैं।’⁷

परन्तु ‘फ्रॉयड के साथ’ तो एक पड़ाव था। वर्ष 2006 में प्रकाशित कृति—‘तात्याटोपे : बुन्देलखण्ड में’ के साथ डॉ. विरही पुनः अपनी जड़ों की ओर लौटते हैं और अपनी भूमि पर लगे तलवारों के घावों की गहराई का स्नेहल—मापन करते हैं। ‘संस्कृति के दूत (सन् 2007) में उनकी सांस्कृतिक—दृष्टि का विस्तार होता है और सर्वथा मौलिक—रूपक—के रूप में वह दृष्टि अवतरित होती है। आलोचना शास्त्र की

शास्त्रीय भाषा में इस ग्रंथ में निबद्ध रूपकों की आत्मा व्यावहारिक कोटि की है। भास, अश्वघोष, कालिदास, अमरुक, बाणभट्ट, भवभूति, गोरखनाथ, चन्द्रवरदाई, नरपति नाह, अमीर खुसरो, कबीर, सूर और तुलसी का साहित्यिक अवदान कृति का प्रमुख प्रतिपाद्य है। ग्रंथ के चौदहवें रूपक—‘परम्परा अर्थात् हेरिटेज’ में अपनी धरती की महक के आकर्षण पर बल दिया गया है। ‘संस्कृति के दूत’ का समापन वाक्य ही समूची कृति के केन्द्रीय भाव को अभिव्यक्त कर देता है : “फरहा : मेरी राय में बाहरी दौलत से रुहानी दौलत ज्यादा अहमियत रखती है। अब्बा हुजूर, मुझे आपने दुनिया के बड़े—बड़े शहरों में घुमाया है। मुझे पेरिस और लंदन में पढ़ाया है। उस तरह की जिंदगी हमें विरासत से काटती है। मैं उस नौजवान से ही निकाह करूंगी जो हिन्दुस्तानी हो और हिन्दुस्तान में ही रहे।”⁸ भारतीय संस्कृति पर हो रहे आक्रमणों के प्रति लेखक के चिन्तनशील मन का चिन्तित होना स्वाभाविक ही है—“भूमण्डलीकरण के इस दौर में हमारी संस्कृति पर परोक्ष आक्रमण हो रहे हैं और नयी पीढ़ी को परम्परा से काटने के प्रयास परिलक्षित हो रहे हैं। इन प्रयासों में बहुत कुछ सफलता मिल रही है जो हमारे समक्ष सांस्कृतिक संकट उपस्थित कर रही हैं।सांस्कृतिक आदान—प्रदान तो होता रहता है, इतिहास के प्रत्येक युग में हुआ है। ऐसे आदान—प्रदान की प्रक्रिया बहुत धीमी गति से होती है और समाजों का स्वभाव उनकी सीमा तय करता है। ‘स्व’ के भाव के अतिक्रमण के प्रयास सांस्कृतिक समस्या पैदा करते हैं। आज की स्थिति ऐसी ही है।”⁹

‘संस्कृति के दूत’ के रूप में डॉ. विरही ने पुनः लोक—संस्कृति की यात्रा की और 2008 में इनकी पुस्तक—‘लोक संस्कृति : अवधारणा और तत्व’ प्रकाश में आयी। इस रचना में डॉ. विरही ने बुन्देली, बघेली, मालवी और निमाड़ी लोक—संस्कार गीतों, लोक—कथाओं, लोक शिक्षा तथा संस्कृति के प्रतीकों द्वारा लोक की समग्र चेतना को परखने का सार्थक प्रयास किया है। इतना ही नहीं स्वतंत्रता आन्दोलन ने लोक चेतना को तथा लोक चेतना ने स्वतंत्रता आन्दोलन को किस सीमा तक प्रभावित किया, इसकी पड़ताल भी कृति में की गयी है। बार—बार लेखक की सजग किंतु व्यथित दृष्टि फिर वहीं जा टिकती है, जहाँ लोक संस्कृति अपसंस्कृति के नागदंश से चेतनाहीन पड़ी

है—“भाषा और साहित्य की बात करते समय मेरा ध्यान अंग्रेजी की ओर भी जाता है। बुन्देलखण्ड के नगरों में अंग्रेजी का बोलबाला इतना बढ़ गया है कि हिन्दी माध्यम के प्राथमिक और माध्यमिक विद्यालयों में शिष्ट वर्ग अपने बच्चों को नहीं भेजता, जबकि अंग्रेजी माध्यम के विद्यालयों में उनके प्रवेश के लिए धन-राशि के व्यय के साथ-साथ चिरौरी भी करता है। इस अंग्रेजी मोह के कारण अंग्रेजियत का आक्रमण इस भू-भाग की संस्कृति पर आपकता के साथ हो रहा है। नव धनाढ्य वर्ग और नौकरशाह अंग्रेजी और अंग्रेजियत के समर्थक ही नहीं, प्रचारक भी हैं। देश की स्वाधीनता के पश्चात् अंग्रेजियत के बढ़ते हुए प्रभाव को संस्कृति के लिए खतरा माना जाना चाहिए।”¹⁰

‘नवजागरण और साहित्य’ (2009) के ग्यारह निबंधों में से दस अन्य विषयों से संबंधित हैं; परन्तु समापन निबंध I—‘लोकचेतना एवं पहल (1857 के स्वाधीनता संग्राम के संदर्भ में) में डॉ. विरही “जैसे पुनि जहाज को पंछी पुनि जहाज पै आवै” की भांति अपने ‘लोक’ में वापस आ जाते हैं और अपने मूल संदर्भों से जुड़े जाते हैं—“जन साधारण की चेतना लोक चेतना का अविकल अर्थ नहीं है, जनसाधारण के साथ उस चेतना में विशिष्टजन भी जुड़े हैं, दूसरी बात यह भी है कि लोक-चेतना समाज के प्रत्येक व्यक्ति की चेतना भी नहीं होती। ऐसे व्यक्ति भी होते हैं, जिनके आचरण लोकचेतना के विपरीत होते हैं। ऐसे व्यक्तियों का व्यक्तित्व खंडित होता है, संकीर्ण स्वार्थ, मानसिक संघर्ष, अत्यधिक दमन और भावात्मक आघातों के कारण ऐसे लोग लोकचेतना के विपरीत चले जाते हैं।”¹¹—इतना ही नहीं, शीघ्र प्रकाश्य ग्रंथ—‘बुन्देली लोक गीतों का सांस्कृतिक अध्ययन’ में डॉ. विरही का आलोचनात्मक रूप पूरी तरह लोक संस्कृति के रंग में रंग जाता है। एक प्रश्न यहाँ

सहज उपस्थित होता है कि यदि डॉ. विरही की आलोचनात्मक दृष्टि लोक-संस्कृतिपरक है तब उन्होंने आलोचना के अन्य क्षेत्रों का स्पर्श क्यों किया? वस्तुतः लेखक अपने परिवेश की उपेक्षा कर रचनाधर्मिता के प्रति न्याय नहीं कर सकता। डॉ. विरही लोक संस्कृति के प्रखर प्रवक्ता तो हैं, पर जड़ आलोचक नहीं हैं, न ही उनकी लोकसंस्कृति की आलोचना जड़ता की सीमा तक जाती है। ये समन्वयवादी आलोचक हैं, परन्तु लोक-संस्कृति के स्वस्थ मूल्यों की प्राप्याशा इनका ध्येय है। संस्कृत-प्रधान युग में लोक भाषा में रामकथा की रचना तुलसी ही कर सकते थे, यद्यपि वे भी संस्कृत में लेखन की क्षमता रखते थे। ‘मानस’ में प्रत्येक सोपान का प्रारम्भ तथा ग्रंथ की इति में उनका संस्कृत-निष्णात-पाण्डित्य परिलक्षित होता है।

अंततः—बुन्देलखण्ड (ललितपुर-उ.प्र.) में जन्मे और सम्प्रति—बुन्देलखण्ड (शिवपुरी-म.प्र.) को अपनी कर्मभूमि बनाने वाले डॉ. विरही की गणना लोक-संस्कृति के प्रधान आलोचकों में की जाती है। डॉ. विरही ने अपनी माटी की संस्कृति को जिया है, इसीलिए उनकी लोक-संस्कृति पर अप्रतिम पकड़ है। लोक संस्कृति के प्रकाशित एवं अन्य अनेक अप्रकाशित पहलुओं का डॉ. विरही ने अपनी सहज शैली में उद्घाटन किया है। डॉ. विरही लोक संस्कृति के संरक्षण के प्रति कटिबद्ध हैं तो इसके क्षरण से व्यथित और चिंतित भी हैं। प्रकाशित कृतियों के अतिरिक्त डॉ. विरही के जो अन्य निबंध यत्र-तत्र प्रकाशित हुए हैं, उनमें यह चिन्ता स्पष्ट रूप से देखी जा सकती है। और सच तो यह है कि यदि हिन्दी के तमाम विद्वान आलोचक तथाकथित ‘शिष्ट साहित्य’ की ओर उन्मुख हो जाएंगे तो तथाकथित ‘अशिष्ट साहित्य’ के डूबते अस्तित्व की रक्षार्थ कौन खड़ा होगा? डॉ. विरही जैसे मुट्ठी भर विद्वान आलोचक ही इस प्रश्न के उत्तर की परिधि में हैं।

सन्दर्भ ग्रन्थ

- 1—2. तात्याटोपे : बुन्देलखण्ड में ; डॉ. परशुराम शुक्ल ‘विरही’ पृ. 13 (स्वराज्य संस्थान संचालनालय, संस्कृति विभाग म. प्र. शासन, रवीन्द्र भवन परिसर भोपाल) संस्क. 2006 3. आधुनिक हिन्दी काव्य में यथार्थवाद ; डॉ. परशुराम शुक्ल ‘विरही’ पृ. 77 (ग्रन्थम प्रकाशन, गोविंद नगर कानपुर) संस्क. 1966 4. वही ; पृ. 342 5. आधुनिक हिन्दी कवियों का जीवन दर्शन ; डॉ. विरही ; पृ. 51 6. बुन्देलखण्ड की संस्कृति ; डॉ. विरही ; पृ. 12 (मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रंथ अकादमी, रवीन्द्रनाथ ठाकुर मार्ग, बानगंगा, भोपाल) संस्क. 2001 7. फ्रायड के साथ ; डॉ. विरही ; पृ. 116 (रामकृष्ण प्रकाशन, सावित्री सदन, तिलक चौक—विदिशा म. प्र.) संस्क. 2003 8. संस्कृति के दूत ; डॉ. विरही ; पृ. 192 (यूनिवर्सल कम्प्यूटर्स, ललता चौक, बढईपारा रायपुर, 36गढ़) संस्क. 2007 9. वही ; भूमिका 10. लोक संस्कृति : अवधारणा और तत्व ; डॉ. विरही ; पृ. 38 (म.प्र. हिन्दी ग्रंथ अकादमी भोपाल) संस्क. 2008 11. नव जागरण और साहित्य ; डॉ. विरही ; पृ. 110 (रजनी प्रकाशन, 5/288, गली नं. 5, वेस्ट कांतिनगर दिल्ली) संस्क. 2009